

ॐ श्री वीतरागाय नमः ॐ

श्री अमोलक ऋषिजी म स्मारके प्रथमाला पुष्प रूह्या ७१

चिन्तन के चित्र

संकलनकर्त्ता

पं मुनि-श्री कल्याण ऋषिजी महाराज

भाचार्य श्री विनयचन्द्र शान भट्टार, जयपुर
संपादक

प. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

वीर स्वत
२४६१
धमोनाद
२६

प्रथमावृत्ति
१०००
मूल्य
१ = २५

विक्रम स्वत
२०२२
ई मन्
१६६१

प्रकाशक—

श्री अमोल जैन सहायक फंड
धुलिया (महाराष्ट्र)

[सर्व अविकार प्रकाशक के स्वाधीन]

मुद्रक:—

जनोदय प्रेस, रतलाम.

प्राक्कथन

चिन्तन-शक्ति वह विभाजक रेखा है जो सृष्टि के मानव और मानवेतर प्राणियों में भेद करती हुई मानव की श्रेष्ठता को उद्घोषित करती है । ससार के सभी धर्मों-शास्त्रों और तत्त्ववेत्ताओं ने मानव-जीवन की दुर्लभता का निरूपण किया है । उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर फरमाते हैं—

चत्तारि परमंगणि दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसन्तं, सुई, सद्दा, मज्जमि य वीरिय ॥

मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और मयम में परा-
क्रम—ये चार अग परम दुर्लभ हैं ।

देता है । "मन एव मनुष्याणा कारण बध्नमोक्षयो " कहकर आचार्यों ने मन की-चिन्तन को अपरिमित शक्ति को व्यक्त किया है ।

साधना के क्षेत्र में चिन्तन का इतना अधिक महत्त्व है कि शास्त्रकारों ने साधक को नियमित रूप से दो प्रहर प्रति-दिन चिन्तन करने का विधान किया है । जैसा कि उत्तराध्यायन में कहा है —

पढमे पोरिसि सज्जायं, वीय भाण भियायइ ।
 तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीइ सज्जाय ॥
 पढम पोरिसि सज्जाय वीय भाण भियायइ ।
 तइयाए निदमोक्ख तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्जाय ॥

प्रथम गाथा में दिवस के चार प्रहरों में की जाने वाली साधना का निरूपण और दूसरी गाथा में रात्रि के चार प्रहरों में की जाने वाली साधना का वर्णन है ।

दिवस के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान-चिन्तन, तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करना चाहिये । रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान-चिन्तन, तीसरे प्रहर में निद्रात्याग और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करना चाहिये । आठ प्रहरों में से चार प्रहर जानाभ्यास के लिये दो प्रहर चिन्तन के लिये नियत किये गये हैं । प्राप्त किया हुआ ज्ञान, चिन्तन के द्वारा ही बृद्ध होता है ।

शास्त्रकारों ने आत्मा के कल्याण के लिये किया जा रहा अनुप्रेक्षाओं-भावनाओं का निरूपण है जिनका चिन्तन करना प्रत्येक मनुष्य के लिये अनिवार्य है । इन भावनाओं के चिन्तन से अनेकों आत्माओं ने अनन्त केवलज्ञान-केवलदर्शन की उपलब्धि कर अपने चरम और परम पुरुषार्थ-मोक्ष को प्राप्त

(८)

किया । चिन्तन के प्रभाव से भरत चक्रवर्ती ने काच के महल मे केवल ज्ञान प्राप्त किया, चिन्तन के प्रभाव से मृगापुत्र ने महल के झरोखे मे बैठे बैठे जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त किया, चिन्तन के प्रभाव से महामुनि अनाथी ने असह्य वेदना से छुटकारा पाया । अनुत्तर विमान के देवता—जो पौद्गलिक सुख साधनो से ऊपर उठ गये है—तैंतीस सागरोपम का लम्बा आयुष्य तत्व चिन्तन मे ही तो पूरा करते है ।

चिन्तन की अनेक धाराएँ हो सकती है । यहाँ चिन्तन की प्रशस्त धाराओ से ही प्रयोजन है । चिन्तन की भूमिका का निरूपण करते हुए तत्व-चिन्तको ने कहा है,—

हूँ कोण छुं ? क्यां थी थयो ?

शुं स्वरूप छे म्हारुं खरुं ?

कोणा सबधे वल्लगणा छे,

राखुं के ए परिहरुं ॥ १ ॥

x

x

x

x

मैं प्रबुद्ध विबुद्ध हूँ, अज्ञान है मुझमे कहाँ ?

सब ओर पूर्ण प्रकाश मेरे, ज्ञान का फैला यहाँ ।

अन्त करण से पाप मूलक, भावनाएँ भग गई ।

अध्यात्मक हर्ष प्रसारिणी, सद्भावनाएँ जग गई ॥

x

x

x

x

‘चिन्तन के चित्र’ नामक इस लघु पुस्तिका मे चिन्तन योग्य सामग्री का सकलन किया गया है । पण्डित रत्न श्री कल्याण ऋषिजी महाराज सा ने शास्त्रो मे से इस सुन्दर सामग्री का चयन किया है । चिन्तको और मुमुक्षुओ के लिये यह सुस्वादु

और रुचिकर सामग्री सुन्दर ढंग से परोसी गई है । विद्वद् रत्न प श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इसका सुन्दर संपादन किया है । आशा है, मुमुक्षु गण इससे लाभ उठाकर अपने जीवन को सार्थक करेगे, साथ ही सकलनकर्त्ता के परिश्रम को भी सफल करेगे ।

चिन्तको और मुमुक्षुओं के लिए परम उपयोगी इस लघु पुस्तिका का प्रकाशन करने के लिये प्रकाशक—श्री अमोल जैन सहायक फड, धूलिया शतश धन्यवाद का पात्र है ।

जंनोदय प्रेस, रतलाम } — बसन्तीलाल नलवाया
 'न्यायतीर्थ'



चिन्तन के चित्र

जयइ जगजीवजोणी,
 वियाणओ जगगुरू जगाणंदी ।
 जगणाहो जगवंदू
 जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥

(१)

-नन्दी

जयइ सुआणं पभवो,
 तित्थयराण अपच्छिमो जयइ ।
 जयइ गुरू लोगाणं,
 जयइ महप्पा महावीरो ॥

(२)

-नन्दी

भदं सव्वजगुडजोयगस्म,
 भदं जिणस्स वीरस्स ।
 भदं सुरासुरवंदियस्स,
 भदं धुयरयस्म ॥

(३)

-नन्दी

मंगलः वीर वन्दना

(गाथा नं. १)

जगत् के जीवो की योनियों के ज्ञाता, जगत् के गुरु, जगत् को आनन्द देने वाले, जगत् के नाथ, जगत् के बन्धु, जगत् के पितामह भगवान् की जय हो ! जय हो !

(२)

समस्त श्रुतो के स्रोत की जय हो ! चरम तीर्थकर की जय हो ! तीनों लोको के गुरु की जय हो ! महात्मा महावीर की जय हो !

(३)

समस्त जगत् मे उद्योत करने वाले का भद्र हो ! सुरो और अमुरो ने वन्दित प्रभु का भद्र हो ! कर्मरज को नष्ट कर देने वाले का भद्र हो ! राग द्वेषादि विकारो के विजेता वीर भगवान् का भद्र हो !

से पन्नया अक्खयसागरे वा,

महोदही वावि अणंतपारे ।

अणाइले वा अकसाइ मुक्के,

सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥ (४)

-सूय. ६-८

रुक्खेसु णाए जह सामली वा,

जस्सि रतिं वेदयती सुवन्ना ।

वणेसु वा णंदणमोहु सेट्टं,

नाणेण सीलेण य भूइपन्ने ॥ (५)

-सूय ६-१८

(४)

(श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहने लगे) भगवान् महावीर सागर के समान अक्षय प्रजा वाले है । उनकी प्रजा का स्वयभूरमण समुद्र के समान पार नहीं है । स्वयभूरमण के जल के समान भगवान् की प्रजा निर्मल है । वे कषायो मे रहित तथा मुक्त है, इन्द्र के समान देवो के अधिपति और अत्यन्त तेजोमय है ।

(५)

जैसे वृक्षो मे शालमली प्रधान है, जिसमे सुपर्ण-कुमार देव आनन्द का अनुभव करते है और जैसे वनो मे नन्दन वन श्रेष्ठ है, इसी प्रकार ज्ञान और गीत मे भगवान् महावीर सर्वोत्तम है ।

दाणाण सेट्टं अभयप्पयाणां,
सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।

तवेसु वा उत्तमं वंभचेरं,
लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥ (६)

-सूय ६-२३

पुहोवमे धुणइ विगयणेही,
न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने ।

तरिउं समुहं व महाभवोधं,
अभयंकरे वीर अणतचक्खू ॥ (१०)

-सूय ६-२१

कोहं च माणां च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोषा ।

एत्राणि वंता अरहा महैमी,
ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥ (११)

-सूय ६-२६

(६)

जैसे दानो मे अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यो मे अन-
वद्य-निष्पाप-सत्य श्रेष्ठ है, सब तपो मे ब्रह्मचर्य
उत्तम है, इसी प्रकार लोक मे ज्ञातपुत्र श्रमण
उत्तम है ।

(१०)

भगवान् महावीर पृथ्वी की भाति प्राणी मात्र
के आधार है । वह कर्मो को नष्ट करने वाले और
गृद्धि से रहित है । सचय से रहित एव आशुप्रज्ञ
है । वह समुद्र के समान भवप्रवाह को पार कर
चुके है, अभयकर हैं और अनन्त ज्ञानचक्षु से
सम्पन्न है ।

(११)

भगवान् महर्षि है । वे क्रोध, मान, माया और
लोभ, इन, चारो कपायो पर विजय प्राप्त करके
न स्वय पाप करते है, न दूसरे से करवाते है ।

जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।
तं देवदेवमहियं, मिरसा वदे महावीरं ॥ (१२)

इक्को वि नमुक्कारो,
जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसार-सागराओ,
तारइ नरं व नारिं वा ॥ (१३)

सिद्ध वन्दना

सिद्धाणं बुद्धाणं
पारगयाणं परंपरागयाणं ।
लोगगमुवगयाणं,
नमो सया सव्वसिद्धाण ॥ (१४)

(१२)

जो देवों के भी देव हैं, जिन्हें देवगण हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं, उन देववद्य महावीर देव को मैं मस्तक नमा कर वन्दन करता हूँ ।

(१३)

जिनवरो मे प्रधान वर्द्धमान भगवान् को किया हुआ एक भी नमस्कार नर और नारी को ससार-सागर से पार कर देता है ।

सिद्ध वन्दना

(१४)

अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाले, अनन्त बोध को प्राप्त, समार-सागर के पार पहुँचे हुए श्रेष्ठ में श्रेष्ठ तथा लोक के अग्रभाग को प्राप्त समस्त सिद्धों को नमन्कार हो ।

एकादश गणधर

पहमित्थ ईदभूई,
 बीए पुण होई अग्निभूई त्ति ।
 तहँए य वाउभूई,
 तत्रो वियत्त सुहम्ममे य ॥ (१८)
 भंडिय मोरियपुत्ते,
 अकंपिए चेंव अयलभाया य ।
 मेयज्जे य पहासे,
 (य) गणहरा हुंति वीरस्स ॥ (१९)
नन्दी

संघ वन्दना

गुण भवण गहण सुयरयण,
 भरिय दंसणविमुद्धरत्थागा !
 संघनगर ! भट्ते,
 अखंडचारित्तपागारा ! (२०)

एकादश गणधर

(१८-१९)

भगवान् महावीर के अरह गणधर हुएँ—(१)
 इन्द्र भूति (२) अग्निभूति (३) वायुभूति (४)
 व्यक्त (५) सुधर्मा (६) मंडितपुत्र (७) मौर्यपुत्र
 (८) अकम्पित (९) अचलभ्राता (१०) मेतार्य
 भीर ११ प्रभास ।

(२०)

मद्गुण रूपी भवनो से गहन, श्रुत रूपी रत्नों
 मे परिपूर्ण, विष्णु मम्यदर्शन रूपी पथो बाने,
 अत्रि (निरतिचार) चारित्र रूपी चहार दीवारी
 मे यक्त मघ-नगर । तुम्हारा कन्याण हो ।

मंजम- तव- तुंभारयस्य,

नमो सम्मत्तपारियल्लस्स ।

अप्पडिचक्कस्स जत्थो,

होउ सया संघचक्कस्स ॥ (२१)

नाण-वररयण-दिप्पंत-

कंतवेरुलिय-विमलचूलस्य ।

वंदामि विणयपणत्थो,

संघ-महामंदरगिरिस्स ॥ (२२)

नगर-रह-चक्क-पउमे,

चदे सरे समुद्धमेहम्मि ।

जो उवमिज्जइ सययं,

तं संघ गुणायरं वंदे ॥ (२३)

-नन्दी

(२१)

सयम एव तप रूपी तुवा एव आरो वाले सम्यक्त्व रूपी पारियल्ल (हाल) वाले, तथा जिसके समान या जिसका विरोधी कोई दूसरा चक्र नहीं है, ऐसे सघ रूपी चक्र को नमस्कार हो । सघ-चक्र की जय हो ।

(२२)

सम्यग्ज्ञान रूपी उत्तम रत्न जिसका कान्त वैडूर्य मणिमय निर्मल शिखर है, उस सघ रूपी सुमेरु गिरि को मैं विनय से नम्र होकर वन्दना करता हूँ ।

(२३)

जिमकी उपमा नगर, रथ, चक्र पद्म, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र और सुमेरु से दी जाती है, उस गुणो वै आकर सघ को मैं सतत वन्दना करता हूँ ।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,
अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि त नमंसंति,
जस्स धम्मो सया मणो ॥ (१)
-दस १-१

जरा जाव न पीडेड,
वाही जाव न वड्ढई ।

जाविंदिया न हायति,
ताव धम्मं समाचरे ॥ (२)
-दस ८-३६

जा जा वच्चड रयणी,
ण मा पडिणियत्तइ ।

अहम्म कुणमाणस्स,
अफला जति राइओ ॥ (३)
-उत्त० १४-२४

धर्म

(१)

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वोत्कृष्ट भंगल है । जिसका मन सदैव इस धर्म में सलग्न रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।

(२)

जब तक वृद्धावस्था नहीं सताती, जब तक व्याधि की वृद्धि नहीं होती और जब तक इन्द्रियाँ थक नहीं जाती तब तक धर्म का आचरण करना चाहिये ।

(३)

जो जो रात्रि व्यतीत होती जा रही है, वह लौट कर नहीं आती । अधर्म का आचरण करने वाले की राते निष्फल जा रही हैं ।

जा जा वच्चइ रयणी,
 ण सा पडिणियत्तइ ।

धम्मं च कुणमाणस्स,
 सफला जंति राइओ ॥ (४)

-उत्त० १४-२५

अद्धाणं जो महंतं तु,
 अपाहेज्जो पवज्जइ ।

गच्छंतो सो दुही होइ,
 छुहातएहाए पीडिओ ॥ (५)

एवं धम्मं अकाळणं.

जो परं

गच्छतो से

(४)

जो जो रात्रि व्यतीत होती जा रही है, फल लौट कर नहीं आती। धर्म का सेवन करने वाले की रात्रियाँ सफल हो रही हैं।

(५-६)

जो मनुष्य लबी मुसाफिरी पर विना पाथेय चल पडता है, उसे भूख और प्यास से पीडित होकर दुःख का अनुभव करना पडता है। इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म न करके परभव के लिए प्रस्थान करता है, वह व्याधियो और रोगो से पीडित होकर दुःखी होता है।

अद्वाणं जो महंतं तु,
सपाहेजो पवज्जइ ।

गच्छंतो सो सुही होइ,
छुहातएहाविवज्जिओ ॥ (७)

एवं धम्मं पि काऊणं,
जो गच्छइ परं भवं ।

गच्छंतो सो सुही होइ,
अप्पकम्मे अवेयणे ॥ (८)

-उत्त० ११-२१-२२

वियाणिया दुक्खविवद्वरणं धणं,
ममत्तबंध च महाभयावहं ।

सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं,
धारेज्ज शिच्चाणगुणावहं महं ॥ (९)

-उत्त० १६-६८

(७-८)

जो मनुष्य लम्बी यात्रा पर पायेय गाथ उद्योग चलता है, वह भूख-ध्यान की पीडा में वचना द्वारा मुख-पूर्वक गमन करता है। उसी प्रकार जो प्रम का सेवन करके परलोक की ओर प्रग्यान करता है, वह कर्म रहित या अन्धकर्म एवं वेदना में रहित होकर सुखी होता है।

(६)

धन को दुखों को बढ़ाने वाला तथा ममता के बन्धन को महान् भयजनक जान कर, सुखजनक, सर्वोत्तम एवं निर्वाण के गुणों (अनन्त ज्ञानादि) को उत्पन्न करने वाले धर्म की धुरा को धारण करना चाहिए।

जहा सागडिओ जाणं,
 समं हिच्चा महोपहं ।
 विसमं मग्गमोइएणो,
 अक्खे भग्गम्मि सोयइ ॥ (१०)
 एवं धम्मं विउक्कम्म,
 अहम्मं पडिवज्जिया ।
 बाले मच्चुमुहं पत्ते,
 अक्खे भग्गे व सोयइ ॥ (११)

-उत्त० ५-१४-१५

जहा य त्तिणिण वाणिया, मूलं घेत्तण णिग्गया ।
 एगोऽत्थ लहए लाहं, एगो मूलंण आगओ (१२)
 एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणियो ।
 ववहारे उवमा एमा, एवं धम्मे वियाणह । (१३)

-उत्त० ५-१४-१५

जे धम्मं सुद्धमक्खंती,
पडिपुण्णमणोलिसं ।

अणोलिसस्स जं ठाणं,

तस्स जम्मकद्दा कओ ? ॥ (१६)

-सूय १५-१६

धम्मं कहंतस्सं उ एत्थि दोसो,

खंतस्स दंतस्स जित्तिदियस्स ।

भासाय दोसे थ विवड्जयस्स,

शुणे य भासाय णिसैवगस्स ॥ (२०)

-सूय (२) ६-५

(१६)

जो पुरुष प्रतिपूर्ग, सर्वोत्तम आर जुद्ध धर्म की
 व्याख्या करते हैं और स्वयं प्राणधना करते हैं, वे
 अनुपम पुरुष के सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त करते
 हैं। उनके पुनर्जन्म की बात ही क्या !

अहिंसा

सर्वे जीवा वि इच्छति,
 जीविषुं न मरिज्जिषुं ।
 तम्हा पाणिवहं घोरं,
 निग्गंथा वज्जयति णं ॥ (१)

—दम ६-११

अभयो पत्थिवो ! तुज्झ,
 अभयदाया भवाहि य ।
 अण्णिच्चे जीवलोगम्मि,
 किं हिंसाए पसज्जमि ? ॥ (२)

उत्तराः १८-११

जस्स दया तस्स गुणा,

जस्स दया तस्म उत्तमो धम्मो

जस्स दया सो पत्तो,

जस्स दया मो जए पुज्जो ॥ (१)

जस्स 'दया सो तवसी,

जस्स दया तस्स सीलसंपत्ती ।

जस्स दया सो नाणी,

जस्स दया तस्म णिव्वारणं ॥

पाणे य नाइवाएज्जा,

से ममिए त्ति वृच्चइ ताई ।

तथ्रो से पावयं कम्मं,

निज्जाइ उदगं व थलायो ॥

(५)

प्राणियों की हिंसा नहीं करना चाहिए । ७।
हिंसा नहीं करता वही समितिमान् कहलाता है ।
जो समितिमान् होता है, उसकी आत्मा से पाप
उसी प्रकार निकल जाता है जैसे स्थल से पानी ।

सत्य

(६)

लोक में मृषावाद नमन्य मनुष्यों द्वारा गरित
है और प्राणियों को अविषयान् उपद्रव करना ? ।
अतएव मिथ्याभाषण का त्याग करना चाहिए ।

तहेव फरुसा भासा,
गुरुभूआवघाइणी ।

सच्चा वि सा न वत्तव्वा.

जओ पावस्स आगमो ॥ (२)

-दस ७-९

बहवे इमे असाहू,

लोए वुच्चंति साहुणो ।

न लवे असाहुं साहुत्ति,

संजयं साहुमालवे ॥ (३)

-दस० ७-४८

नाणदंसणसंपण्णं,

संजमे य तवे रयं ।

एवं गुणममाउत्तं,

संजयं साहुमालवे ॥ (४)

-दस ७-४६

तहेव सावज्जणुमोइणी गिरा,
 ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
 से कोह-लोह-भय-हास माणवो,
 न हासमाणो वि गिरं वइज्जा । (५)

-दस ७-५४

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया सुणी,
 गिरं च दृढं परिवज्जए सया ।
 मियं अदुट्ठे अणुवीइ भामए,
 सयाण मज्जे लहई पयंमण ॥ (६)

-दस ७-५५

भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया,
 तीसे य दृढे परिवज्जए सया ।
 छसु मंजए सामणिए मया जाए,
 वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥ (७)

-दस ७-५६

भासमाणो न भासेज्जा,
शेय वंफेज्ज मम्मयं ।

माइट्ठाणं विवज्जेज्जा,
अणुचित्थियं वियागरे ॥ (८)

-सूय ९-२५

चित्तमंतमचित्तं वा,
अप्पं वा जडं वा बहं ।

दत्तसोहणमित्तं वि,
उग्गहं से अजाइया ॥ (९)

तं अप्पणा न गिण्हंति,
नो वि गिण्हावणं पर ।

अन्नं वा गिण्हमाणं पि,
नाणुजाणंति संजया ॥ (१०)

-३म ६-१४-१५

(८)

भाषा समिति से युक्त साधु धर्मोपदेश करता
 तथा भी न बोलने वाले (मौनधारी) के समान
 हैं। साधु किमी के हृदय को व्यथित करने वाला
 शब्द न कहे, कपटवचन न कहे, किन्तु सोच-विचार
 कर ही बोलें।

अस्तेय

देव-दाणव गंधर्वा,

जक्खरक्खसकिन्नरा ।

बंभयारिं णमंसति

दुक्कर जे करेति तं ॥ (१)

उत्तरा० १६-१६

णो रक्खिमीसु गिज्जेज्जा,

गंडवच्छ्रापु णोगचित्तासु ।

जात्रो पुरिस पलोभित्ता,

खेलंति जहा व दासेहिं ॥ (२)

उत्तरा० - १८

नारीसु णो पगेज्जेज्जा,

इत्थी विप्यजहे अणमारं ।

धम्म च पेम्मल गाच्चा,

तत्थ टवेज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥ (३)

उत्तरा० ८-१६

ब्रह्मचर्य

जइ त काहिसि भावं,
जा जा दिच्छसि नारित्री ।

षायाविद्धु ठ्व हडो,
अट्टिअप्पा भविस्ससि । (७)

—दस. २-२२

विधित्ता य भवे सिज्जा,
नारीणं न लवे कहा ।

गिहिसंथवं न कुज्जा,
कुज्जा साहहि संथवं ॥ (८)

—दस. ५-१३

जहो कुक्कुडपोयस्म, निच्चं कुललयो भय ।
एवं खु वंभयारिस्म, इत्थी विग्गहयो भयं ॥ (९)

—दस. ६-१४

ब्रह्मचर्यं

(४६)

(५)

वित्तभित्ति न निज्झाए, नारिं वा सुअलंक्रियं
मवखरं पिव दड्डुणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ (१०)

—दम, ८-५

हत्थ-पायपडिच्छिन्नं,

करण-नास त्रिगण्णियं ।

अवि वाममयं नारिं,

वंभयारी विवज्जए ॥ (११)

—दम - ८-१६

विभूया इत्थीसंमग्गो,

पणीयं समभोयण ।

नरस्सत्तगवेसिम्म,

विम वालउटं जहा ॥ (१२)

—दम ८-१७

(१०)

जिस भीत पर स्त्री का चित्र हो उसे और शृंगार की हुई स्त्री को टकटकी लगा कर न देखे । अचानक दृष्टि पड़ जाय तो जल्दी से हटा ले जैसा सूर्य की तरफ से हटा ली जाती है ।

(११)

जिसके हाथ-पैर कटे हो, कान-नाक कटे हों और जो सौ वर्ष की बुढ़िया हो, ऐसी नारी से ब्रह्मचारी पुरुष दूर ही रहे ।

(१२)

शृंगार, नारीससर्ग और पौष्टिक रस व भोजन, यह सब आत्मगवेपी पुरुष के लिए तब तक नानर विष के समान है ।

जहा दवग्गी पउरिंधणो वणे,

समारुओ नोवसमं उवेइ ।

एविंदियग्गी वि पगामभोइणो,

न वभयारिस्स हियाय कस्सई ॥ (१३)

-उत्त० ३२-११

जहा विरालावसहस्स मूले,

न मूसगाणं वसही पसत्था ।

एमेव इत्थीनिल्लयस्स मज्जे,

न वंभयारिस्स खमो निवामो ॥ (१४)

-उत्त० ३०-१३

अवंभचरिय घोर,

पमायं दुरहिट्ठियं ।

नायरंति मुणी लोण,

भेयाययणवज्जिग्गा ॥ (१५)

-दम ६-१६

(१३)

प्रचुर ईंधन हो और हवा चल रही हो तो वन में दावानल शान्त नहीं होता, इसी प्रकार ठान-ठान कर भोजन करने वाले की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। किसी भी ब्रह्मचारी पुरुष के लिए यह हितकर नहीं है।

(१४)

मूलमेयमहम्मस्स,

महादोससमुस्सयं ॥

तम्हा मेहुणसंसग्गं,

निग्गंथा वज्जयति णं ॥ (१६)

-दस ६-१७

इत्थिओ जे न सेवति,

आइमोक्खा हु ते जणा ।

ते जणा वंधणुम्मुक्का,

नावक्खंति जीवियं ॥ (१७)

-सूय १५-६

णीवार व ण लीण्डजा,

छिन्नमाए अणाविलं ।

अणाउले मया दंते,

मांविं पत्ते अणेत्तिम ॥ (१८)

-सूय. १५-१७

से सुद्वसुत्ते उवहाणवं च,

धम्मं च जे विदति तत्थ तत्थ ।

आदेज्जवक्के कुसले विगत्ते,

स अरिहइ भासिउ तं समाहिं ॥ २६

—मूय १-१४-२७

जहा दुस्मम पुप्फेसु,

भमरो आवियइ रस ।

ण य पुप्फं किलामेइ,

सो अ पीणेइ अप्पर्यं ॥ (२७)

एमेए समणा मुत्ता,

जे लोए संति साहुणो ।

विहंगमा व पुप्फेसु,

दाणभत्तेसणे रया ॥ (२८)

—दस १-२-३

(२६)

जो साधु शुद्धता के साथ सूत्र का उच्चारण करता है, तथा शास्त्रोक्त तप का अनुष्ठान करता है, जो उत्सर्ग की जगह उत्सर्ग और अपवाद की जगह अपवाद मार्ग की स्थापना करता है, उसीके घचन ग्राह्य है। इस प्रकार जो अर्थ करने में कुशल है और बिना विचारे कार्य नहीं करता, वही भाव-समाधि का प्रतिपादन करने योग्य है।

(२५-२८)

जैसे भ्रमर वृक्ष के फूलों में से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, वह फूलों को पीडा नहीं पहुँचाता और अपनी तृप्ति कर लेता है, साधु भी इसी प्रकार गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन की गवेपणा करते हैं। वे भ्रमर की भाँति गृहस्थ को कष्ट नहीं होने देते और अपना निर्वाह कर लेते हैं।

वत्थगंधमलंकारं,

इत्थीओ सयणाणि य ।

अच्छंदा जे न भुंजति,

न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ (२६)

—दस. -२-२

जे य कंते पिण भोए,

लद्धे वि पिड्डिकुव्वइ ।

साहीणे चयई भोए,

से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥ (३०)

—दस, २-३

सुहसायगस्स समणस्स,

सायाउलगस्स खिगामसाइस्स ।

उच्छोलणापहोयस्स,

दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥ (३१)

—दस. ४-२६

(२६)

जो विवश होकर—अनिच्छा से वस्त्र, गध, अलंकार स्त्री और शय्या आदि का उपभोग नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता ।

(३०)

जो कमनीय और प्रिय भोगों को प्राप्त होने पर भी स्वेच्छापूर्वक त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है ।

(३१)

सुख का आस्वादन करने वाले, साता के लिए आकुल रहने वाले, अत्यधिक निद्रा लेने वाले, बार-बार अंगों को पखारने वाले, ऐसे श्रमण को सद्गति प्राप्त होना दुर्लभ है ।

तवोगुणपहाणस्स,

उज्जुमइ खंतिसंयमरयस्स ।

परीसहे जिणंतस्स,

सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ (३२)

—दस. ४-२६

यच्छा वि ते पयाया,

खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।

जेसि पित्रो तवो संजमो,

य खति य बंभचेरं च ॥ (३३)

—दस ४-२६

विभूसावत्तियं भिक्खू,

कम्मं बंधइ चिक्कणं ।

संसारसायरे घोरे,

जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ (३४)

—दस ६-६१

(३२)

जो तपश्चरण एव सद्गुणों की प्रधानत
वाला है, सरल बुद्धि वाला है, क्षमा और सयम में
निरत है और परीषहो पर विजयी होता है, उस
साधु को सुगति सुलभ होती है ।

(३३)

जिन्हें तप, सयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है
वे भले ही विलम्ब करके—वृद्धावस्था में भी दीक्षित
हुए हो, शीघ्र देवभवानो-स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ।

(३४)

भिक्षु साज-शृंगार-भावना के निमित्त से
चिकने कर्मों का बन्ध करता है, जिससे वह घोर
और दुस्तर ससार-सागर में जा पड़ता है ।

निदं च न बहु मन्निज्जा,

सप्पहासं विवज्जए ।

मिहो कहाहिं न रमे,

सज्झायम्मि रओ सया ॥ (३५)

—दस. ८ ४२

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,

गिणहाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ।

वियाणिया अप्पगमप्पएणां,

जो रागदोसेहिं समोस पुज्जो ॥ ३६

—दस. ६ (३)-११

(३५)

श्रमण बहुत निद्रा न ले, ठहका मार-मार कर न हँसे, परस्पर विकथा न करे, बल्कि सदैव स्वा-ध्याय मे निरत रहे ।

(३६)

साधु के योग्य सद्गुणों के कारण ही कोई साधु होता है और अवगुणों के कारण असाधु कहलाता है, अतः साधु के योग्य गुणों को ग्रहण करो और साधु के अवगुणों का त्याग करो । जो आत्मा के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जानकर राग और द्वेष को त्याग कर समभाव धारण करता है वही पूज्य है ।

जहा सुणी पूइकरणी,
 गिक्कसिज्जइ सव्वसो ।
 एवं दुस्सीलपडिणीए,
 मुहरी गिक्कसिज्जइ ॥ (१)

—उ अ १ गा ४

कणकुंडगं चइत्ताणं,
 विट्ठं भुंजइ सूयगे ।
 एवं सीलं चइत्ताणं,
 दुस्सीले रमइ मिए ॥ (२)

—उ अ १ गा

सुणियाऽभावं साणस्स,
 सूयरस्स णारस्स य ।
 विणए ठविज्ज अप्पाणं,
 इच्छतो हियमप्पणो ॥ (३)

—उ अ. १ गा ६

विनय

(२)

जैसे दुर्गन्धित-सड़े कानो वाली कुतिया सब जगहो से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार दुष्ट स्वभाव वाला एव अमबद्ध भाषण करने वाला भी निकाल दिया जाता है ।

(२)

जैसे तण्डुलो के कुडे को त्याग कर शूकर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार अज्ञान-अविनीत पुरुष मुन्दर शील को त्याग कर दुष्ट शील (दुराचार) में रमण करता है ।

(३)

कुत्ती के, शूकर के ओर मनुष्य के इस अशो-भन भाव को श्रवण करके, अपने हित की अभि-लाषा करने वाला अपनी आत्मा को विनय-सदाचार में स्थापित करे ।

मा गलियस्सेव कसं,

वयणमिच्छे पुणो पुणो ।

कसं व दट्टमाइएणे,

यावगं परिवज्जए ॥ (४)

—उ. अ. १ गा १२

रमए पंडिए सासं,

हयं भदं व वाहए ।

वालं सम्मइ सासतो,

गलियस्सं व वाहए ॥ (५)

उ अ. १ गा ३७

(४)

अडियल घोडा जैसे बार-बार कोडा खाने की अपेक्षा रखता है, वैसे बार-बार गुरु के वचनों की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए, किन्तु जैसे सुविनीत अश्व सवार के कोड़े को देखते ही उसके अभिप्राय के अनुसार प्रवृत्ति करना है, उसी प्रकार विनीत शिष्य गुरु के अभिप्राय को समझ कर ही पापाचरण का परित्याग कर दे ।

(५)

जैसे भद्र अश्व का सवार आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार विनीत शिष्यो को शिक्षा देने वाला गुरु आनन्दानुभव करता है । इसके विपरीत, मूड शिष्य का शिक्षक उसी प्रकार खेद का अनुभव करता है जैसे अडियल टट्टू का सवार ।

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
 गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
 सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
 फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ (६)
 -दस अ. ६ गा. १
 जे यावि नागं उहरं ति नच्चा,
 आसायए से अहियाय होइ ।
 एवायरियं पि हु हीलयंतो,
 नियच्छइ जाइपहं खु मंदो ॥ (७)
 -दस अ. ६ गा. ४
 आसीविसो वावि परं सुरुद्धो,
 किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ।
 आयरियपाया पुण अप्पसन्ना,
 अत्रोहि आसायण नत्थि मोक्खो (८)
 -दस अ. ६ गा. ४

(६)

अभिमान से, क्रोध से, मद से अथवा प्रमाद से जो गुरु के निकट विनय नहीं सीखता है, उसका वही अभूतिभाव उसके विनाश का उसी प्रकार कारण बनता है जैसे वास का फल उसके विनाश का बनता है ।

(७)

नाग को छोटा जान कर जो उसकी आशातना करता है, उसके लिए वह अहितकर है । इसी प्रकार आचार्य की अवहेलना करने वाला अज्ञानी जन्म-मरण के पथ को प्राप्त होता है ।

(८)

अन्यन्त रुष्ट हुआ विपथर भी प्राणनाश से अधिक क्या कर सकता है । किन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न हो जाएँ तो अवोचि की प्राप्ति होती है । उनकी आशातना करके मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता ।

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
 गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
 सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
 फलं व कीअस्स बहाय होइ ॥ (६)
 -दस अ ६ गा. १

जे यावि नागं उहरं नि नच्चा,
 आसायए से अहियाय होइ ।
 एवायरियं पि हु हीलयंतो,
 नियच्छइ जाइपहं खु मंदो ॥ (७)
 -दस अ. ६ गा ४

आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो,
 किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ।
 आयरियपाया पुण अप्पसन्ना,
 अब्बोहि आसायण नत्थि मोक्खो (८)
 -दस. अ ६ गा. ४

(६)

अभिमान से, क्रोध से, मद से अथवा प्रमाद से जो गुरु के निकट विनय नहीं सीखता है, उसका वही अभूतिभाव उसके विनाश का उसी प्रकार कारण बनता है जैसे वास का फल उसके विनाश का बनता है ।

(७)

नाग को छोटा जान कर जो उसकी आशातना करता है, उसके लिए वह अहितकर है । इसी प्रकार आचार्य की अवहेलना करने वाला अज्ञानी जन्म-मरण के पथ को प्राप्त होता है ।

(८)

अत्यन्त रुष्ट हुआ विपथर भी प्राणनाश से अधिक क्या कर सकता है । किन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न हो जाएँ तो अवोधि की प्राप्ति होती है । उनकी आशातना करके मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता ।

जो पावगं जलिअमवक्कमेज्जा,
आसीविसं वावि हु कोवएज्जा ।

जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी,
एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ (६)

—दस अ ६ गा ७

सिया हु से पावय नो डहिज्जा,
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।

सिया विसं हालहलं न मारे,
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ १०

—दस अ ६ गा. ७

जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे,
सुत्तं व सीह पडियोहइज्जा ।

जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं,
एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ (११)

—दस. अ ६ गा. ८

(६)

गुरु की आशातना करना जली हुई अग्नि को कुचलने, विषधर को छेड़ कर कुपित करने और जीवित रहने की अभिलाषा से विषभक्षण करने के समान है ।

(७०)

कदाचित्त कुचली हुई अग्नि उसे न जलावे, कुपित विषधर न डँसे, संभव है हलाहल विष से भी मृत्यु न हो, किन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष अवश्य रूक जाना है ।

(६१)

गुरु की आशातना करना पर्वत को मस्तक ने भेदने की इच्छा करने, लोथे हुए सिंह को जगाने अथवा शक्ति नामक शस्त्र के अग्रभाग में प्रहार करने के समान आशातना करने वाले के लिए हीं अहितकर है ।

जो पावगं जलिअमवक्कमेज्जा,
 आसीविसं वावि हु कोवएज्जा ।
 जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी,
 एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ (६)
 —दस अ. ६ गा. ६
 सिया हु से पावय नो डहिज्जा,
 आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
 सिया विसं हालहलं न मारे,
 न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ १०
 —दस अ ६ गा. ७
 जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे,
 सुत्तं व सीह पडिबोहइज्जा ।
 जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं,
 एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ (११)
 —दस अ ६ गा. ८

(६)

गुरु की आशातना करना जली हुई अग्नि को कुचलने, विपथर को छेड़ कर कुपित करने और जीवित रहने की अभिनाया में विपभक्षण करने के समान है ।

(७०)

कुर्दाचित कुचली हुई अग्नि उमें न जलावे, कुपित विपथर न डँमें, संभव है हलाहल विप में भी मृत्यु न हो, किन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष अवश्य रुक जाता है ।

(११)

गुरु की आशातना करना पर्वत को मस्तक में भेदने की इच्छा करने, सोये हुए सिंह को जगाने अथवा शक्ति नामक अस्त्र के अग्रभाग में प्रहार करने के समान आशातना करने वाले के लिए ही अहितकर है ।

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविति साहा ।

साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,

तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥ १५

—दस अ. ६ गा. १

एवं धम्मस्स विणओ,

मूलं परमो से मुखो ।

जेण कित्ति सुअं सिग्घं,

नीसेसं चाभिगच्छः ॥ (१६)

—दस. अ. १-२, गा. २

जे य चंडे मिए थद्धे,

दुव्वाई नियडी सढे ।

बुज्झइ से अविणीअप्पा,

कट्ठं सोयगयं जहा ॥ (१७)

—दस. अ. ६-२, गा. ३

विशयमि उवाएणं,
 चोइओ कुप्पई नरो ।
 दिव्वं सो सिरिमिज्जंतं,
 दंडेण पडिसेहए ॥ (१८)

—दस. अ. ६-२, गा. ४

आयरिय अग्गिमावाहिअग्गी,
 सुस्ससमाणो पडिजागरिज्जा ।
 आलोइअं इंगियमेव नेच्चा,
 जो छंदमाराहयई स पुज्जो ॥ १९

अह चोदसहि ठाणेहिं,

वड्डमाणो उ संजए ।

अविणीए वुच्चई सो उ,

णिक्खाणं च न गच्छई ॥ (१)

—उत्त० ११-१

अभिकखणं कोही हवइ,

पबंधं च पक्कव्वइ ।

मित्तिज्जमाणो वमइ,

सुयं लद्धेण मज्जइ ॥ (२)

—उत्त० ११-५

अवि पावपरिक्खेवी,

अवि मित्तेसु कुप्पइ ।

सुप्पियस्स वि मित्तस्स,

रहे भासइ पावर्ग ॥ (३)

—उत्त० ११-८

विनीत-अविनीत

(१)

चौदह स्थानों में से किसी में वर्तमान संयत अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता ।

(२)

पूर्वोक्त चौदह स्थान इस प्रकार हैं—(१) धार-बार क्रोध करना (२) कोमल वचनादि से भी शान्त न होना (३) मैत्री करने पर भी उसका त्याग करना (४) श्रुतज्ञान पाकर अभिमान करना—

(३)

(५) अपने दोषों को छिपाना (६) मित्रों पर भा कुपित होना (७) अत्यन्त प्रिय मित्र के भी दोषों को एकान्त में प्रकट करना—

अह चोदसहि ठाणेहिं,

घट्टमाणो उ संजए ।

अविणीए बुच्चई सो उ,

णिक्वाणं च न गच्छई ॥ (१)

—उत्त० ११-१

अभिकखणं कोही हवइ,

पबंध च पक्कवइ ।

मिच्छिज्जमाणो वमइ,

सुयं लद्धंण मज्जई ॥ (२)

—उत्त० ११-७

अधि पावपरिक्खेवी,

अधि मित्तेसु कुप्पइ ।

सुप्पियस्स वि मित्तस्स,

रहे भासइ पावर्ग ॥ (३)

—उत्त० ११-८

विनीत-अविनीत

(१)

चादह ध्याना मे मे किरी मे वचनान गया
अविनीत कहलाना हे आर वह निर्वाण प्राप्त करी
कर सकना ।

(२)

पूर्वावत चादह ध्यान उस प्रकार ह—(१)
बार-बार क्रोध करना (२) कामल वचनादि ने
सी शान्त न होना (३) मैत्री करने पर भी उसका
त्याग करना (४) श्रुतज्ञान पाकर अभिमान करना—

(३)

(५) अपने दोषों को छिपाना (६) मित्रों
पर भा कुपित होना (७) अत्यन्त प्रिय मित्र के
भी दोषों को एकान्त में प्रकट करना—

पइएणवाइ दुहिले,
थद्धे लुद्धे अनिग्गहे ।

असंविभागी अचियत्ते,
अविणीए त्ति वुच्चइ ॥ (४)

—उत्त० ११-६

अह पएणरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
णीयावित्ती अचवले, अभायी अकुऊहले ॥
अप्पं च अहिक्षिवइ, पबंधं च ण कुव्वइ ।
मित्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धं ण मज्जइ ॥ १

ए य पावपरिकखेवी,
ए य मित्तेसु कुप्पइ ।

अप्पियस्स वि मित्तस्स,
रहे कज्जलाण भासइ ॥ (६)

(४)

(८) प्रतिज्ञावादी-एकान्त निश्चय रूप बोलने वाला (९) द्रोही (१०) अहकारी (११) लोभो (१२) इन्द्रियो और मन का निग्रह न करने वाला (१३) अमविभागी-प्राप्त वस्तुओं का बँटवारा न करने वाला और (१४) अग्रीतिकर । इन कारणों से साधक अविनीत कहलाना है ।

(५-६)

पन्द्रह स्थानों से बुद्धिमान् साधक सुविनीत कहलाता है, यथा-(१) नम्रता (२) अचपलता (३) निष्कपटता (४) कुतूहलरहितता (५) किसी पर आक्षेप न करना (६) प्रवन्ध-क्रोध का सातत्य-न करना (७) मैत्री करने पर उपकार करना कृतघ्न न होना (८) श्रुत प्राप्त करे अभिमान न करना (९) अपने पाप को आचार्यादि से न छिपाना (१०) मित्रों पर कुपित न होना (११) अप्रिय मित्र के भी दोष परोक्ष में न कहना ।

कलह-डमरवज्जिए,
 बुद्धे अभिजाइए ।
 हिरिमं पडिसंलीणे,
 सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥ (७)

—उत्त० ११-१०-१३

इन्द्रियनिग्रह

न सक्का न सोउं सद्दा,
 सोत-विसयमागया ।
 रागदोसा उ जे तत्थ,
 ते भिक्खू परिवज्जए ॥ (१)

आचारांग, २४

(७)

(१२) लडाईं जगड़े में दूर रहना (१३)

कुलीनता-स्वीकृत भार का निर्वाह करना (२४)

लज्जाघान् होना और (१५) प्रतिनन्वीन-निप्रयोग
वेष्टा न करने वाला मुविनीत कहलाना है ।

इन्द्रियनिग्रह

(१)

कान में पड़े हुए शब्दों को न सुनना तो संभव नहीं है, किन्तु मुक्ति को उन शब्दों के विषय में शङ्क-द्वेष नहीं करना चाहिए ।

कलह-डमरवज्जिए,
 बुद्धे अभिजाइए ।
 हिरिमं पडिसंलीणे,
 सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥ (७)

—उत्स० ११-१०-१३

इन्द्रियनिग्रह

न सक्का न सोउं सहा,
 सोत-विसयमागया ।
 रागदोसा उ जे तत्थ,
 ते भिक्खू परिवज्जए ॥ (१)

आचारान्ग, २४

इन्द्रियनिग्रह

(१)

कानों में पड़े हुए शब्दों को न सुनना तो संभव नहीं है, किन्तु मुनि को उन शब्दों के विषय में राग-द्वेष नहीं करना चाहिए ।

नो सकका रूवमदृष्टं,
 चक्खु-विसयमागयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ,
 ते भिक्खु परिवज्जए ॥ (२)
 -आचाराग, २४

न सकका गंधमग्घाउं,
 नासा-विसयमागयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ,
 ते भिक्खु परिवज्जए ॥ (३)
 -आचाराग, २४

न सकका रसमस्साउं,
 जीहा-विसयमागयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ,
 ते भिक्खु परिवज्जए ॥ (४)
 -आचाराग, २४

(२)

नेत्र के समक्ष आया हुआ रूप न देखना तो शक्य नहीं है—वह दिखाई दे ही जाता है, किन्तु साधु उम पर राग—द्वेष न करे ।

(३)

घ्राणेन्द्रिय का विषय बनी गंध को न सूघना तो सभव नहीं, परन्तु उस गंध में राग—द्वेष से वचना चाहिए ।

(४)

जिह्वा पर आये हुए रस का आस्वादन न होना तो शक्य नहीं है, किन्तु मुनि को उसमें राग—द्वेष धारण नहीं करना चाहिए ।

न सक्का फासमवेएउं,

फासविसयमागयं ।

रागदोसा उ जे तत्थ,

ते भिक्खू परिवज्जए ॥ (५)

-आचारांग, २४

शिक्षा

अह पंचहिं ठाणेहिं,

जेहिं सिक्खा ण लब्भइ ।

थंभा कोहा पमाएणं,

रोगेणालस्सएण य ॥ (१)

—उत्त० ११-२

(५)

स्पर्शनेन्द्रिय से स्पृष्ट स्पर्श का अनुभव न करना तो अशक्य है, किन्तु उसमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिए । यही सच्चा इन्द्रियदमन है ।

शिक्षा

(१)

जिन पाच कारणों से शिक्षा की प्राप्ति नहीं हो पाती वह यह हैं—(१) अभिमान से (२) क्रोध से (३) प्रमाद (मद्य-विषय आदि) से (४) रोग से और (५) आलस्य से ।

अह अद्दुहि ठाणेहिं,
 सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ।
 अहस्सिरे सया दंते,
 ण य मम्ममुदाहरे ॥ (२)

णासीले ण विसीले,
 ण सिया अइलोलुए ।

अकोहणे सच्चरणे,
 सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥ (३)

—उत्त० ११-४-५

वसे गुरुकुले णिच्चं
 जोगवं उवहाणवं ।

पियंकरे पियंवाई,
 से सिक्खं लद्धुमरिहइ ॥ (४)

—उत्त० ११-१४

(२-२)

आठ प्रकार के साधक शिक्षाशाला कहलाता है, यथा-(१) हंमोड न हो (२) मदा इन्द्रियो का दमन करता रहे (३) किना के मर्म को प्रकाशित न करे (४) शीलरहित न हो (५) शील-व्रत मे दोष न लगावे (६) अति लोलुप न हो (७) क्रोधशील न हो और (८) सत्यनिष्ठ हो । इन आठ गुणो से युक्त पुरुष शिक्षाशील कहलाता है ।

(४)

साधक को सदैव गुरुकुल (गुरु के परिवार-गच्छ) में निवास करना चाहिए । प्रशस्त व्यापार मे निरत, तपश्चर्यावान्, प्रियकर और प्रियवादी होना चाहिए । वही शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होता है ।

शिक्षा

(१०५)

(७)

जैसे पथ प्रदर्शक अंधेरी रात्रि में न देखा जाता हुआ मार्ग को नहीं जानता, किन्तु सूर्योदय होने के पश्चात् प्रकाश फैलने पर मार्ग को जान लेता है ।

(८)

इसी प्रकार धर्म में अनिष्णात गिद्य धर्म के स्वरूप को नहीं जानता, परन्तु जिन वचनों का ज्ञाता होकर वही धर्म को ऐसे जान लेता है, जैसे सूर्य का उदय होने पर नेत्रों द्वारा वस्तुओं को देख लेता है ।

(९)

साधु अवसर देख कर आचारनिष्ठ आचार्य से प्राणियों के विषय में पूछे और सर्वज्ञ के आगम को बनलाने वाले की पूजा करे । आचार्य की आज्ञा मानता हुआ उसके उपदेश को हृदय में स्थापित करे और केवली कथित समाधि को समझे ।

ज्ञान

पहमं नाणं तथो दया,
 एबं चिह्णइ-सन्वसंजए ।
 भ्रमाणी किं काही ?
 किं वा नाहिइ सेय-पावणं ॥ (१)

—दस, ४-१०

जहा सुई समुत्ता,
 पडिआ वि न विणस्सइ ।
 तहा जीवे समुत्ते,
 संसारे वि न विणस्सइ ॥ (२)

ज्ञान

(१)

पहले ज्ञान, फिर दया, ऐसा ही सब साधु करते हैं, क्योंकि अज्ञानी वेचारा क्या करेगा ? वह पुण्य पाप को ज्ञान के बिना कैसे जानेगा ?

(२)

जैसे ससूत्र-धागा सहित-सुई गिर जाय तो भी गुमती नहीं है, इसी प्रकार ससूत्र-श्रुतज्ञान से सम्पन्न जीव ससार में भी विनष्ट नहीं होता-दुखी नहीं होता । वह निराकुलता और आनन्द के साथ जीवन यापन करता है ।

जहा संखंमि पयं णिहियं,
दुहत्थो वि विरायइ ।

एवं बहुस्सुए भिक्खु,
धम्मो कित्तिं तहा सुयं ॥ (३)

—उत्त० ११-१५

जहाऽऽइएणसमारुढे,
सूरे दढपरक्कमे ।

उभत्थो णंदिघोसेणं,
एवं हवउ बहुस्सुए ॥ (४)

—उत्त० ११-१७

(३)

जैसे गन्ध में रक्षत्रा हुआ दुग्ध दोनों कारणों से अपनी धवलता और आधार सवत्री निर्मलता से-सुगोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और आगम गोभा पाते हैं ।

(४)

जैसे उत्तम जाति के अश्व पर आरूढ, दृढ पराक्रम वाला शूरवीर दोनों ओर-दाहिने और बाएँ, नन्दीघोष से अर्थात् वाद्यों की ध्वनि से शोभा पाता है, वह किसी से पराजित नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत विद्वान् परवादियों से पराजित नहीं होता ।

जहा से वासुदेवे

सख-चक्र-गयाधरे ।

अप्यडिहयवले जोहे,

एवं हवइ बहुस्सुए ॥ (५)

—उत्त० ११-२१

जहा से चाउरंते

चक्रवट्टी महिडिहए ।

चोदस रयणाहिवई,

एवं हवइ बहुस्सुए ॥ (६)

—उत्त० ११-२०

(५)

जैसे शत्रु, चक्र और गदा को धारण करने वाला वामुदेव अम्बुलित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु भी । तात्पर्य यह है कि जैसे सहज बल और शस्त्रों से सम्पन्न वामुदेव का कोई पराभव नहीं कर सकता उसी प्रकार सहज प्रतिभा और श्रुत से सम्पन्न भिक्षु को भी कोई पराजित नहीं कर सकता । वह कर्म रिपुओं पर अवश्य विजयी होता है ।

(६)

जैसे चतुरगिणी सेना से शत्रुओं का अन्त करने वाला चक्रवर्ती महान् ऋद्धि का धारक और चौदह रत्नों का स्वामी होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भा । बहुश्रुत चार प्रकार के धर्म से कर्मशत्रु का विनाश करता है, ग्रामर्षाधि आदि ऋद्धियों का धारक होता है और रत्नों के समान चौदह पूर्वों का धारक होता है ।

जहा से वासुदेवे

संख-चक्र-गयाधरे ।

अप्पडिहयवले जोहे,

एवं हवइ बहुस्सुए ॥ (५)

—उत्त० ११-२१

जहा से चाउरंते.

चक्रवट्टी महिडिठए ।

चोदस रयणाहिवई,

एवं हवइ बहुस्सुए ॥ (६)

—उत्त० ११-२२

(५)

जैसे शख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वामुदेव अम्बुनित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु भी । तात्पर्य यह है कि जैसे सहज बल और शस्त्रों से सम्पन्न वासुदेव का कोई पराभव नहीं कर सकता उसी प्रकार सहज प्रतिभा और श्रुत से सम्पन्न भिक्षु को भी कोई पराजित नहीं कर सकता । वह कर्म रिपुओं पर अवश्य विजयी होता है ।

(६)

जैसे चतुरगिणी'सेना से शत्रुओं का अन्त करने वाला चक्रवर्ती महान् ऋद्धि का धारक और चौदह रत्नों का स्वामी होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भा । बहुश्रुत चार प्रकार के धर्म से कर्मशत्रु का विनाश करता है, आमर्षोपधि आदि ऋद्धियों का धारक होता है और रत्नों के समान चौदह पूर्वों का धारक होता है ।

जहा से सहस्रखे,
 वज्रपाणी पुरंदरे ।
 सकके देवाहिर्बई,
 एवं हवइ बहुस्सुए ॥ (७)

—उत्त० ११-२३

(५)

जैसे ऋहजार लोचनो वाला, हाथ मे वज्र नामक आयुध धारण करने वाला, पुरन्दर अर्थात् लोकोक्ति के अनुसार शत्रु-नगर का विध्वन करने वाला इन्द्र देवो का अधिपति होना है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी श्रुतज्ञान रूपी हजार नेत्रो वाला, हाथ मे वज्र के चिह्न वाला, पुरन्दर अर्थात् काया को कृश करने वाला तथा देवो का पूज्य होता है ।

ऋइन्द्र के पाच सौ मत्रो होते हैं । एक एक मत्रो दो-दो नेत्रो वाला होने से हजार नेत्र होते हैं । हजार नेत्र इन्द्र के मार्गदर्शक होते हैं । अथवा इन्द्र अपने दो नेत्रो से इन्द्रना देखता है जितना हजार नेत्रो से देखा जाता है । इन कारणो मे वह सहस्रलोचन कहलाता है ।

(८),

जैसे अन्धकार का विध्वंस करने के लिये उदीयमान सूर्य तेज ने जाग्रतमान मानता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी अज्ञानान्धकार का विनाशक, नयन ने ऊँचा उठता हुआ एवं नपस्नेज ने देदीप्यमान होता है।

(९)

जैसे नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा नक्षत्रों, ग्रहों एवं ताराओं से विरा हुआ पूर्णिमासी को नमस्त कलाओं से परिपूर्ण होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी साधु समूह रूपी नक्षत्रों से परिवृत होता है।

(१०)

जैसे सागर में समाने वाली, नीलवन्त पर्वत से निकलने वाली शीता नामक नदी नदियों में उत्तम है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अन्य साधुओं में उत्तम, समुद्र के समान मुक्तिगामी और नीलवन्त पर्वत के समान महान् कुल में प्रसूत होता है।

(१५)

इस प्रकार तब मैं अपने मन को मोक्षप्रद निद्रा करते हुए, धर्म-अधर्म को तब जानने वाले अज्ञानी कर्मबन्धन का नहीं तोड़ सकने, जैसे पक्षी पीजरे को नहीं तोड़ सकता ।

(१५-१६)

जन्मान्ध पुरुष छेद वाली नीका पर चढ़ कर पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच में ही डूब कर मर जाता है । इसी प्रकार कोई कोई मिथ्या-दृष्टि अनार्य श्रमण समार से पार होना चाहते हैं, परन्तु संसार में ही अटकते हैं ।

(१७)

श्रवण करके ही कल्याण जाना जाता है और श्रवण करके ही अकल्याण-पाप जाना जाता है । कल्याण और अकल्याण भी श्रवण करके ही जाना जाता है । श्रवण करके उसी का आचरण करना चाहिए जो श्रेयस्कर ही ।

एवं तक्काई साहेन्ता,
धम्माधम्मे अकोविया ।

दुक्खं ते नाडतुट्ठति,

सउणां पंजरं तदा ॥ (१४)

जहा अस्साविणिं नावं, जाइअधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागन्तुं, अन्तरा य विसीयई ॥१५
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, ससार अणुपरियट्ठंति ॥१६

—सूय १-१-३१-३२

सोच्चा जाणइ कल्लारां,

सोच्चा जाणइ पावगं ।

उभयं पि जाणइ सोच्चा,

जं सेयं तं समायरे ॥ (१७)

—दस ४-११

 तप

(१)

जैसे पल्लुस्तर वाली दीवार पल्लुस्तर गिरा कर कूंग कर दी जाती है, इसी तरह अनशन आदि तपो द्वारा शरीर को कुश कर देना चाहिए और अहिंसाधर्म का पालन करना चाहिए । सर्वज्ञ ने यही धर्म कहा है ।

(२)

जैसे पक्षिणी अपने शरीर में लगी धूल को शरीर झाड़ कर गिरा देती है, इसी तरह अनशन आदि तप करने वाला तपस्वी भव्य अपने कर्मों का कुश कर देता है ।

तप

शुश्रूषया कुलित्य व लेखवं
 किसए देहमणासणाइहिं ।
 अविहिंसामेव पव्वए,
 अणुधम्मो सुश्रूषणा पवेदितो ॥१॥

—सूय २-१-१४

सउणी जह पंसुगुंडिया,
 विहुश्रिय धसयई सियं रयं ।
 एवं दवि श्रोवहाणवं,
 कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥२॥

—सूय. २-१-१५

(३)

तप दो प्रकार का कहा गया है—ब्राह्म और
 आभ्यन्तर । ब्राह्म तप छह प्रकार का है और
 आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है ।

(४)

तवो य दुनिहां वुत्तो,
बाहिरब्धितरो तथा ।

बाहिरो छव्विहो वुत्तो,
एवमब्धितरो तवो ॥३॥

—उत्त० २२-३४

खवित्ता पुव्वकम्माइ,
संजमेण तवेण य ।

सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा,
पक्कमंति महेसिणो ।४॥

—उत्त० २५-३५

णो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ णिच्चो ।

अज्झत्थहेउ णिययस्स वधो,
ससारहेउं च वयंति बंधं ॥५॥

—उत्त० २६

(१२)

मनुष्यों को दूध-घी आदि रसों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः धातुओं का उद्रेक करते हैं। धातूद्रेक वालों को काम उमा प्रकार घेर लेते हैं जैसे स्वादु फलों वाले वृक्ष को पक्षी।

(१३)

जैसे किपाक फल भोगते समय रस और रूपा में मनोहर प्रतीत होते हैं किन्तु विपाक होने पर जीवन को नष्ट कर देते हैं, कामगुण भी विपाक में ऐसे ही हैं।

(१४)

देवों के कामभोगों की तुलना में मानविय कामभोग उसी प्रकार है जैसे समुद्र की तुलना में कुण्ड की नौक पर रहा हुआ पानी।

रसा पगामं न निसेवियव्या,

पायं रसा दित्तिकरा णरणं ।

दित्तं च कामा समभिद्वन्ति,

दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१२॥

—उत्तरा० ३२-१०

जहा य किपाकफला मणोरमा,

रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।

ते खुड्डए जीविथ पच्चमाणा,

(१०)

(१३)

जैसे किपाक फल भोगते समय रस और स्वा
 ने मनोहर प्रतीत होते है किन्तु विपाक होने पर
 जीवन को नाश कर देने हैं, कामगुण भी विपाक
 में ऐसे ही हैं ।

(१४)

देवों के कामभोगों की तुलना में मानवों के
 कामभोग उसी प्रकार हैं जैसे समुद्र की तुलना में
 कुश की नौक पर रहा हुआ पानी ।

कुसुग्गमिता इमे कामा

सखिणरुद्धम्मि आउए ।

कस्स हेउ पुरा काउ,

जोगक्खेमं ण संविदे ॥ (१५)

भोगामिसदोसविसणं,

हियणिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।

बाले य मंदिए मूढे,

वज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥ (१६)

—उत्त० ८-५

दुपरिच्चया इमे कामा,

णो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।

अह संति सुव्वया साहू,

जे तरंति अतरं वणिया व ॥ (१७)

प्रमाद

सुत्तेसु यावि पडिवुद्धजीवी,
 शो वीमसे पंडिए आमपणणे ।
 घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
 भारंडपक्खीव चरऽप्पमत्ते ॥ (

—उत्त० ४-

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं,
 आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
 पुव्वाइ वासाइं चरऽप्पमत्तां,
 तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥ (२)

—उत्त० ५ ८

(२)

स्वच्छन्दता पर अकुश रमन वाला मोक्ष प्राप्त करता है, जैसे शिक्षित जात बन्दर को शासन करने वाला शत्रु मगर में सफलता प्राप्त करता है। अतएव अनेक पूर्वपरिमित वर्गा तल भी नाः अप्रमत्त होकर ही विचरण करे। प्रमाद तल परि त्याग करने से ही मुनि शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है।

कोहो पीडं पणःसेइ.

माणो विणयणासणो ।

माया मित्ताणि नासेइ,

लांहो सव्व विणासणो ॥ (३)

—दस. ८-३८

उवसमेण हणे कोहं,

माणं मदवया जिणे ।

मायमज्जवभावेणं,

लोह संतोसओ जिणे ॥ (४)

—उत्त० ८-३६

अहे वग्गइ कोहेण,

माणेण अहमा गई ।

माया गइपडिग्घाओ,

लोहाओ दुहओ भयं ॥ (५)

—उत्त० ६-५४

जहा लाहो तहा लोहो

लाहा लोहो- पवड्ढइ । (६)

—उत्त० ८-१७

सुवण्ण-रुणस्स उ पव्वथां भवे,

सिया हू केलाससमा असंखया ।

णारस्स लुद्धस्स ग तेहि किंचि,

इच्छा हु आणाससमा अणंतिया ॥१०

—उत्त० ६-५५

सव्वं जगं जइ तुहं,

सव्वं वावि धणं भवे ।

सव्वं वि ते अपज्जत्तं,

णोव ताणाय तं तव ॥ (११) ५

—उत्त १४-३६

(९)

ज्यो-ज्यो लाभ होता है त्यो-त्यो लोभ बढ़ता है । लाभ से लोभ की वृद्धि होती है ।

(१०)

कदाचित्त कैलाश के बराबर सोने-चाँदी के अनख्य पर्वत बन जाएँ तो भी लोभी मनुष्य को उनसे कुछ भी सन्तोष नहीं होने का । इच्छा आकाश के समान अनन्त है—उमकी कही सीमा नहीं ।

(११)

अगर साग समार तुझे सौंप दिया जाय अथवा दिग्ब का समस्त धन तेरा हो जाय, तब भी तेरे लिए वह पर्याप्त नहीं होगा । मगर वह धन तेरा प्राण नहीं कर सकता ।

दवग्गिणा जहा रणणे,

डुब्भमाणेसु जंतुसु ।

अरणणे सक्ता पमोयंति,

रागदोसवसंगया ॥ (१२)

एवमेव वयं मूढा,

कामभोगेसु मुच्छिन्त्या ।

डुब्भमाणं ए बुब्भामो,

रागदोसग्गिणा जगं ॥ (१३)

—उत्त० १४-४२-४३

तयसं व जहाइ से रयं,

इति संखाय मुणी न मज्जइ ।

भोयन्नतरेण माहणे,

अहऽसेयकरी अनेसी इंखिणी ॥ (१४)

—सूय० २-२-१

(१२-१३)

वन में दावानल से अन्य प्राणियों को जलते देख राग-द्वेष के वशीभूत अन्य प्राणी प्रसन्न होते हैं । इसी प्रकार कामभोगों में गृद्ध मूढ पुरुष, राग द्वेष की अग्नि से जलते हुए जगत् को देखकर भा बोध प्राप्त नहीं करते ।

(१४)

जैसे सर्प त्वचा का त्याग कर देता है, उसी प्रकार मुनि कर्म-रज का त्याग कर देता है । ऐसा जान कर मनि अपने कुरु आदि का अभिमान नहीं करता और न किना को निन्दा करता है, क्योंकि निन्दा अज्ञान का कारण है ।

(१७८)

चिन्तन के शिखर

जइ वि य नगिणे किसे चरे,
जइ वि य भुंजिय मासमंतसो ।

जे इह मायाइ - मिज्जइ,
आगंता गन्माय खंतसो ॥ (१५)

सूय २-१-६

तवतेणो वयतेणो,
रुवतेणो य जे नरे ।

आयारभावतेणो य,
कुव्वई देवकिव्विसं ॥ (१६)

—दस ५ उ २ गा. ४६

लद्धूण वि देवत्तं,
उववन्नो देवकिव्विसे ।

तत्थावि से न याणाइ,
किं मे किच्चा इमं फलं ॥ (१७)

—दस. ५-२-४७

(१५)

जो मनुष्य कषायो से युक्त है, वह चाहे नग्न
एव कृश होकर विचरण करे अथवा एक मास के
अन्त में भोजन करे, तथापि अनन्त काल तक
गर्भवास-जन्म-मरण को प्राप्त होता है ।

(१६)

जो पुरुष तप का चोर, व्रत या वचन का चोर
रूप का चोर या आचार भाव का चोर होता है,
वह मर कर किल्बिष (अथवा श्रेणी का) देव
होता है ।

(१७)

देवगति प्राप्त होने पर भी किल्बिष होता है !
वह तो उसे पता नहीं चलता कि क्या करने से
मुझे इस कुफल की प्राप्ति हुई है ?

ततो वि से चइत्ताणं,
 लब्धिही एलमूयग ।
 नरगं तिरिक्खजोणिं वा,
 बोही जत्थ सुदुब्बहा ॥ (१८)

—दस. ५-२-४८

एयं च दोसं दड्डुणं,
 नायपुत्तेण मासियं ।
 अणुमायं पि मेहावी,
 मायामोसं विवज्जए ॥ (१९)

—दस. ५ (२) ४६

ओच्छिद सिणोहमप्पणो,
 कुमुयं सारइयं व पाणियं ।

से सव्वसिणोह-वज्जिए,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २०

—उत्त० १०-२२

ततो वि से चइत्तारुं,
लब्धिही एलमूयग ।

नरगं तिरिक्खजोणिं वा,
बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ (१८)

—दस. ५-२-४८

एयं च दोसं दङ्कुणं,
नायपुत्तेण भोसियं ।

अणुमायं पि मेहावी,
मायामोसं विवज्जए ॥ (१९)

—दस. ५ (२) ४९

वोच्छिद सिणोहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं ।

से सव्वसिणोह-वज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २०

—उत्त० १०-२८

(१८)

वह वहा में च्युत होकर गूगे वकरे की योनि प्राण करेगा । तत्पश्चात् नरक-तिर्यञ्च योनि में जन्म लेगा जहा बोधि अत्यन्त दुर्लभ है ।

(१९)

जानपुत्र न० महावीर द्वारा कथित इस दोष तो जान कर में प्राची पुष्प अणु मात्र भी माया-भवादाद सा परिन्यास कर दे ।

(२०)

जे कोहणे होइ जगदुभासी,

विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।

अंधेव से दंडपहं गहाय,

अविओसिए धासति पावकम्मी ॥२१

—सूय. १-१३-५

जे विग्गहीए अन्नायभासी,

न से समे होइ अमंभपत्ते ।

उवायकारी य हिरीमणे य,

{ एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥ (२२)

—सूय १-१३-६

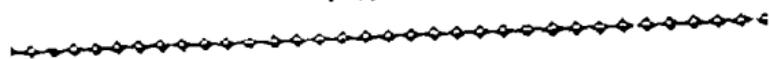
जे यावि पुट्टा पलिउंचयंति,

आथाणमड्डं खलु वंचयित्ता ।

असाहुणो ते इह साधुमाणी,

मायणिण एसंति अणंतघातं ॥ (२३)

—सूय १-१३-४



(२१)

जो पुरुष सदा क्रोध करता रहता है, दूसरे के दोषों का कथन करता है और शान्त हुए कलह को पुनः प्रदीप्त करता है, वह पापाचारी झगड़े में पड़ा रहता है। पगडंडी से जाने वाले अधे की तरह वह दुःखों का भाजन बनता है।

(२२)

जो कलह करता है, अन्याय-भाषण करता है वह ममता को प्राप्त नहीं होता। अतएव साधु पुरुष गुरु की आज्ञा का पालन करे, पापकर्म करने लज्जित हो और तत्त्व के प्रति एकान्त निष्ठा रखे। वही पुरुषोत्तम अमायी है।

(२३)

जो पूछने पर गुरु का नाम छिपाते हैं, वे मोक्ष में वंचित होते हैं। वे वास्तव में असाधु हैं नद्यापि अपने को साधु मानते हैं। एमें मायावी अनन्त वार मन्त्र में ध्यान को प्राप्त होते हैं।

कर्म

एगया देवलोएसु,
 नरएसु वि एगया ।
 एगया आसुरं कायं,
 अहाकम्मेहिं गच्छई ॥ (१)

—उत्त० ३-३

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
 सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
 एवं पया पेच्च इहं च लोए,
 कडाण कम्माण ए मोकख अत्थि ॥ (२)

—उत्त० ४-३

अच्चेइ कालो तूरंति राइओ,
 ण यावि भोगा पुरिसाण णिच्च ।
 उणिच्च भोगा पुरिसं चयंति,
 दुमं जहा खीणफलं ष पक्खी ॥ (४)

—उत्त० १२-२१

डहरा बुड्ढा य पासह,
 गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
 सेणे जह वड्ढयं हरे,
 एवं आउखयंमि तुट्ठइ ॥ (५)

—सूय २-१-२

संघुज्झह किं न घुज्झह,
 संघोही खल्लु पेच्च दुज्झहा ।
 नो हूवणमंति राइओ,
 नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥ (६)

—सूय २-१-१

कामेहि संथवेहि य 'गिद्धा,
कम्मसहा कालेण जंतवो ।

ताले जह बंधणच्चुए,
एवं आउकखर्यमि तुड्ढति ॥ (७)

—सूय २-१-६

जया सर्व्व परिच्चउज,
णंतव्वमवरुस ते ।

अणिच्चे जीवलोगम्मि,
किं रज्जम्मि पसउजसि ? ॥

—उत्त० १२-१६

जीघियं चैव सूवं च,
विउजु-संघाय-चंचलं ।

अत्थ तं मुज्झसि रायं,
पेच्चत्थं णाववुज्झसि ॥ (६)

—उत्त० १८-१३

(७)

विषयभोगो मे और परिवार आदि मे आसक्त प्राणी अवसर आने पर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयु क्षीण होने पर उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होते हैं जैसे बन्धन से छूटा ताल फल गिर जाता है ।

(८)

इस अनित्य जीवलोक मे जब सभी कुछ त्याग कर अवश्य ही जाना है, तब इस राज्य-वैभव मे क्या अनुरक्त हो रहा है ?

(९)

राजन् ! जिस पर तुम मुग्ध हो रहे हो, वह जीवन और रूप विजली की क्षणिक आभा के समान है । तुम परलौकिक हित को नहीं समझते ।

कामेहि संथवेहि य 'गिद्धा,
कम्मसहा कालेण जंतवो ।

ताले जह बंधणच्चुए,
एवं आउकखर्यमि तुट्ठति ॥ (७)

—सूय २-१-६

अया सर्व्वं परिच्चउज्ज,
गंतव्वमवरुस ते ।

अण्णिच्चे जीवलोगम्मि,
किं रज्जम्मि पसउज्जसि ? ॥

—उत्त० १२-१६

जीवियं चेत्र रूवं च,
विउज्जु-संपाय-चंचलं ।

अत्थ तं मुज्झसि रायं,
पेच्चत्थं णावघुज्झसि ॥ (६)

—उत्त० १८-१३

(७)

विषयभोगी में और परिवार आदि में आसक्त प्राणी अवसर आने पर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयु क्षीण होने पर उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होते हैं जैसे बन्धन से छूटा ताल फल गिर जाता है ।

(८)

इस अनित्य जीवलोक में जब सभी कुछ त्याग कर अवश्य ही जाना है, तब इस राज्य-वैभव में धयो अनुरक्त हो रहा है ?

(९)

राजन् ! जिस पर तुम मुग्ध हो रहे हो, वह जीवन और रूप विजली की क्षणिक आभा के समान है । तुम परलौकिक हित को नहीं समझते ।

इम सरीरं अणिच्चं,
 असुइं असुइसंभवं ।
 असासयावासमिणं,
 दुक्खकेसाण भायणं ॥ (१०)
 —उत्त० १६-१२

असासए सरीरम्मि,
 रइं नोवलभामहे ।
 पच्छा-पुरा व चइयव्वे,
 फेणवुब्बुय-सणिणभे ॥ (११)
 —उत्त० १६-१४

माणुमत्ते असारम्मि,
 वाहिग्गेगाण आलए ।
 जरामरणधेत्थम्मि,
 खण वि न रमामहे ॥ (१२)
 —उत्त० १६-१५

(१०)

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है—अशुचि का उत्पादक है । जीव का अल्पकालीन आवासस्थान है, दुखो और क्लेशो का भाजन है ।

(११)

जो पहले—पीछे अवश्य ही त्यागने योग्य है, जल के बुल-बुल के समान—क्षणिक है, सदा स्थिर रहने वाला नहीं है, ऐसे इस शरीर में मेरा कोई अनुराग नहीं है ।

(१२)

निम्सार, व्याधियो एव रोगो के घर तथा जरा और मरण से ग्रस्त इस मानव शरीर में मुझे क्षण भर के लिए भी अनुराग नहीं होता ।

जन्मं दुःखं जरा दुःखं,
रोगाणि मरणाणि य ।

अहो दुःखो हु संसारो,
जत्थ कीसंति जंतवो ॥ (१३)

—उत्त० १६-१७

जहा गेहे पलितम्मि,
तस्स गेहस्स जो पह ।

सारं भडाणि णीणेइ,
असारं अवउज्झइ । (१४)

एवं लोए पलीतम्मि,
जराए मरणेण य ।

अप्पाणं तारइस्सामि,
नुब्भेहि अणुमण्णिओ ॥ (१५)

—उत्त० १६-२३-२४

(१३)

जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग और मरण दुःख है । अहो, यह ससार दुःखमय है जहा जीव दुःखी हो रहे हैं ।

(१४-१५)

घर में आग लगने पर घर का स्वामी सार-भूत सामान बाहर निकाल लेता है और निस्सार वस्तुओं को छोड़ देता है, इसी प्रकार जरा और मरण से जलते हुए इस ससार से मैं अपनी आत्मा को आपकी (माता-पिता की) अनुमति प्राप्त कर ताहेंगा ।

मोक्ष

जहा महातलायस्स,
 सण्णरुद्धे जलागमे ।
 उस्सिचणाए तवणाए,
 कमेणं मोसणा भवे ॥ (१)

एवं तु संजपस्सावि,
 पावकम्मणिरासवे ।
 भवकोडिअचियं कम्म,
 तवसा णिज्जरिज्जई ॥ (२)

— उक्त ७३०-१ ६

(६)

सिद्ध भगवान् कहां रुक जाते हैं ? कहां प्रतिष्ठित होते हैं ? कहां शरीर का परित्याग करके कहां जाकर सिद्धिलाभ करते हैं ?

(७)

सिद्ध भगवान् गतिसहायक धर्मास्तिकाय न होने से अलोक में रुक जाते हैं, लोक के अग्रभा में प्रतिष्ठित होते हैं, यही शरीर का त्याग करना जाते हैं और वहाँ लोकाग्र पर जाकर सिद्ध होते जाते हैं ।

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,

विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।

सज्झाय-एगतनिसेवणा य,

सुत्तत्थसंचितणया धिई य ॥ (३)

--उत्त० २०-३

णाणस्स सध्वस्स पगासणाए,

अण्णाणमोहस्स त्रिवज्जणाए ।

रागस्स दोसस्स य संखण्णं,

एगतमोक्ख समुवेइ मोक्खं ॥ (४)

- उत्त० ३२-२

दुक्ख हयं जस्स ण होइ मोहो,

मोहो हय्यो जस्स ण होइ तएहा ।

तएहा हया जस्स ण होइ लोहो,

लोहो हय्यो जस्स ण किचणाइं । (५)

--उत्त० ३२-५

(३)

उस मोक्ष का मार्ग यह है—गुरुजनो एव पर्याय-
वृद्धो की सेवा करना, शिथिलाचारी आदि अज्ञानी
जनों से दूर रह कर वचना, एकान्त में स्वाध्याय
का सेवन करना, सूत्र और अर्थ का सम्यक् प्रकार
से चिन्तन करना और धैर्य रखना ।

(४)

मति आदि सब ज्ञानों को निर्मल बनाने से,
अज्ञान और मोह को दूर करने से तथा राग और
द्वेष का पूरी तरह क्षय करने से एकान्त आनन्दमय
मुक्ति प्राप्त होती है ।

(५)

जिसका मोह नाश हो गया उसका दुःख नष्ट
हो गया । जिसने तृष्णा का नाश कर दिया उसने
मोह का नाश कर दिया । जिसका लोभ चला
गया उनकी तृष्णा चली गई और जो अकिंचन हो
गया उसका लोभ नाश हो गया ।

कहिं पडिहया सिद्धा,

कहिं सिद्धा पडडिया ।

कहि बौदिं चइत्ताणं,

कत्थ गंतूण सिज्भई ? ॥ (६)

—उत्त० ३६-५६

अलोए पडिहया सिद्धा,

लोयग्गे य पडडिया ।

इहं बौदिं चइत्ताणं,

तत्थ गतूण सिज्भई ॥ (७)

—उत्त० ३६-५७

धारसहिं जोयणेहि,

सव्वड्डस्सुवरिं भवे ।

ईसिपब्भारणामा उ,

पुढवी छत्तसंठिया ॥ (८)

—उत्त० ३६-५८

कहिं पडिहया सिद्धा,
कहिं सिद्धा पडिहिया ।

कहिं बौदिं चइत्ताणं,
कत्थ गंतूण सिज्झई ? ॥ (६)
—उत्त० ३६-५६

अलोए पडिहया सिद्धा,
लोयग्गे य पडिहिया ।

इहं बौदिं चइत्ताणं,
तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ (७)
—उत्त० ३६-५७

धारसहिं जोयणेहि,
सव्वट्टस्सुवरिं भवे ।

ईसिपग्गभारणामा उ,
पुढवी छत्तसंठिया ॥ (८)
—उत्त० ३६-५८

(६)

सिद्ध भगवान् कहाँ रुक जाते हैं ? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं ? कहाँ शरीर का परित्याग करके कहाँ जाकर सिद्धिलाभ करते हैं ?

(७)

सिद्ध भगवान् गतिसहायक धर्मास्तिकाय न होने से अलोक में रुक जाते हैं, लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होते हैं, यही शरीर का त्याग करके जाते हैं और वहाँ लोकाग्र पर जाकर सिद्ध होते जाते हैं ।

(८)

सर्वार्थसिद्ध नामक विमान से वारह योजन ऊपर ईषद्प्राग्भार नामक पृथ्वी है । वह छत्र के आकाश की है ।

पणयालसयैसहस्सा,

जोयगार्शं तु आयया ।

तावश्यं चैव विविथयणा,

तिगुणो साहिय परिरओ ॥ (९)

—उत्त० ३६-५६

अट्टजोयणवाहल्ला,

सा मज्झमि वियाहिया ।

परिहायती चरिमते,

मच्छि,त्ताउ तणुनरी ॥ (१०)

—उत्त० ३६-६०

अट्टजुणसुवन्नगमड,

सा पुठ्ठी निम्मसा महावेण ।

उत्ताणगल्लत्तयमंठिया य

मणिया जिणवरहि ॥ (११)

—उत्त० ३६-६६

(६)

वह पृथ्वी पैंतालीस लाख योजन लम्बी और इतनी ही चौड़ी है । उसकी परिधि तिगुनी से कुछ अधिक है ।

(१०)

वह पृथ्वी मध्यभाग से आठ योजन मोटी कही गई है । फिर अनुक्रम से पतली होते-होते अन्त में सक्खी के पख से भी अधिक पतली है ।

(११)

वह पृथ्वी स्वभात्र से ही निर्मल और श्वेतवर्ण के अर्जुन स्वर्ण की है । तीर्थकरो का कथन है कि वह ऊर्ध्वमुख छत्र के सस्थान वाली है ।

संखंककु'दसंकासा,

पंडुरा निम्मला सुभा ।

सीयाए जीयणे तत्तो,

लोयंतो उ वियाहिओ ॥ (१२)

उत्त० ३६-६२

सत्थ सिद्धा महाभागा,

लोगग्गम्भि पइड्डिया ।

भवप्पयंचउम्मुक्का

सिद्धि वरगइं गया ॥ (१३)

—उत्त० ३६-६३

अरूयिणो जीवधणा,

णाणदसण सणिया ।

अउलं सुहं संपत्ता,

उवमा जस्स णत्थि उ ॥ (१४)

—उत्त० ३६-६६

(१२)

वह पृथ्वी शख, अक रत्न तथा कुन्द के फूल के समान श्वेत, निर्मल और शुभ है। उससे एक योजन ऊपर लोक का अग्रभाग कहा गया है।

(१३)

वहाँ लोकाग्र भाग मे महाभाग, जन्म-मरण के प्रपच से मुक्त, सिद्धि नामक उत्तम गति को प्राप्त सिद्ध भगवान् विराजमान है।

(१४)

सिद्ध भगवान् अरूपी है, सघन आत्म-प्रदेशो वाले है, अनन्त ज्ञान-दर्शनमय है और ऐसे अतुल सुख को प्राप्त है जिसकी कोई उपमा नहीं है।

जहा दद्धाण बीयाणं,
ण जायंति पुण्णकुरा ।

कम्मवीएसु दड्ढेसु,
न जायति भवंकुरा ॥ (१५)

—दशा. ५-१३

सुक्कमूले जहा रुक्खे,
सिच्चमाणे ण रोहति ।

एवं कम्मा ण रोहंति,
मोहणिज्जे खयं गए ॥ (१६)

—दशा ५-१४

णाणं च दंसणं चैव,
चरित्तं च तवो तथा ।

एस मग्गो त्ति पएणत्तो,
जिणेहिं वरदंमिहिं ॥ (१७)

—उत्त० ६३-२

नादंसणस्म णाणं

णाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।

अगुणस्स णत्थि मोक्खो,

णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं ॥ (१८)

—उत्त० २५-३०

णाणेण जाणइ भावे,

दंसणेण य सदहे ।

चरित्तेण णिगिण्हाइ,

तवेण परिसुज्झइ ॥ (१९)

—उत्त० २५-३१

निव्वाणं परमं बुद्धा,

णक्खत्ताण व चदिमा ।

तम्हा मदा जए दत्ते,

निव्वाण संवए भुणी ॥ (२०)

—मय ११-००

के ते जोई ? के व ते जोड्ठाणा ?

का ते सूया ? किं व ते कारिसंगं ?

एहा य ते कयरा संति ? भिक्खू,

कयरेण होमेण हुणासि जोई ? ॥ (२)

—उत्त० १२-४३

तवो जोई जीवो जोड्ठाणं,

जोगा सुया सरीरं कारिसंग ।

कम्मं एहा संजमजोग संती,

होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥ (३) ।

—उत्त० १२-४४

(२)

हे भिक्षु ! पूर्वोक्त उत्तम यज्ञ करने के लिए तुम्हारी अग्नि कौन-सी है ? तुम्हारी अग्नि के स्थान कौन-से हैं ? घृत आदि का क्षेपण करने वाला वाला चम्मच कौम-सा है ? करीष क्या है ? समिधाएँ क्या है ? किस होम विधि से तुम अग्नि में होम करते हो ?

(३)॥

भिक्षु ने उत्तर दिया—वाह्य और आभ्यन्तर तप अग्नि है, जीव अग्नि का स्थान है, योग चम्मच है, शरीर करीष है, आठ कर्म समिधाएँ है, संयमव्यापार शान्तिमत्र है । मैं ऋषियौ द्वारा प्रशसित ऐसा होम करता हूँ ।